THE ECONOMIC TIMES

Date: 01-04-17

Indian tourism should use digital technology to preserve and inform

Tourism can not just earn foreign exchange from visitors from abroad but also educate India's own people about the richness and diversity of its cultural heritage, creating the sensibility of tolerance and accommodation a prosperous India calls for. It would make sense to deploy advances in imaging technology, ranging from holography to virtual/augmented reality at or near sites that are difficult to reach or too fragile to be exposed to the prying eyes and phone cameras of visiting hordes. The breathtaking rock-cut temples at Ajanta and Ellora, world heritage sites in Aurangabad district, Maharashtra, are a ready candidate for such embellishment.If visitors spend more time at the digital exhibits, and less at the actual sites, it should reduce the fading of colour in their most remarkable artwork arrays of people, palaces and pavilions, the earliest of which date from 2nd century BC. Hampi, in Karnataka, another world heritage site, indeed has benefited from corporate sponsorship, complete with 3D exhibits and fine digital displays.Similarly, Ellora, with its magnificent proportions and stupendous monolithic sculptures, would benefit from digital exhibits on-site, as many of the original statues have been disfigured and damaged over the centuries. Quality public conveniences seem particularly lacking in Ellora; those at Ajanta also need sprucing up.

Ajanta's visual delights cover fruit, flowers, animals and the majestic half-kneeling elephant — the emblem of the tourism ministry. The colours used include, besides locally procured red and yellow ochre, lime and lampblack, the bright blue derived from lapis lazuli, imported all the way from Persia. If that reveals ancient India's commercial reach, the carvings at Ellora — all on a giant basalt rock face — detail not just characters from the great Indian epics but also Jain and Buddhist iconography and telling mastery of architecture and sculpture.The ministry of tourism would do well to take advantage of the growing sophistication of smartphones to incorporate virtual reality increasingly as a regular feature, apart from more mature 3D projection techniques.

दैनिक भास्कर

Date: 01-04-17

जलवायु परिवर्तन के असर से तल्ख होता मौसम

पांच राज्यों में हुए चुनाव के बाद राजनीति अपना तेवर दिखाती उससे पहले मौसम ने निगाहें टेढ़ी कर दी हैं और दस राज्यों में गर्मी सिर चढ़कर बोल रही है। वैसे तो पूरा उत्तर भारत **गर्मी** की चपेट में है लेकिन, महाराष्ट्र के रायगढ़ जिले का पारा 46.5 डिग्री सेल्सियस पहुंचने के साथ कुछ लोगों की जान ले चुका है।गर्मी आएगी इस बारे में लोग तैयार रहते हैं लेकिन, मार्च मध्य में ही वह अपना प्रकोप दिखाने लगेगी इसके लिए शायद लोग तैयार नहीं थे। मौसम विभाग ने इसके पीछे दक्षिण अमेरिकी तट पर प्रशांत सागर में उठने वाली गर्म हवाओं से पैदा होने वाले अल नीनो प्रभाव को जिम्मेदार बताया है और यह भी आशंका जताई है कि गर्म हवाओं के थपेड़े या लू का यह झोंका घटने की बजाय

बढ़ेगा। इसके परिणामस्वरूप इस साल कम बारिश की भी आशंका जताई जा रही है। बढ़ती गर्मी की वजह कार्बन के बढ़ते उत्सर्जन और कार्बन डाइऑक्साइड में वृद्धि और जंगलों का कटना भी है।मानव हस्तक्षेप के सारे क्रियाकलाप प्राकृतिक परिवर्तन को तेज कर रहे हैं और नतीजतन ग्लोबल वार्मिंग की प्रक्रिया प्रभावशाली हो रही है। इंटरनेशनल पैनल अॉन क्लाइमेट चेंज(आईपीसीसी) के अनुसार हर साल ग्लोबल वार्मिंग से डेढ़ लाख लोगों की मौत हो रही है और अगर जलवायु के पतन की यही रफ्तार रही तो 2030 तक यह संख्या दो गुनी हो जाएगी। गर्म दिनों की संख्या बढ़ने और अधिकतम तापमान चालीस के पार रहने का सबसे बुरा असर उन मजदूरों और बेघर लोगों पर पड़ेगा, जिन्हें तपती गर्मी में रोज काम किए बिना भोजन नहीं मिलता।ऐसे में समाज और सरकार उन कार्यक्रमों पर अमल कर सकते हैं, जिनसे वातावरण में कार्बन उत्सर्जन कम हो, पेड़ काटे जाने की बजाय लगाए जाएं और नदियों, तालाबों और जल-संरक्षण के अन्य उपायों को पुनर्जीवित किया जाए। मकान ऐसे बनाए जाएं जो बिजली की कम खपत के बावजूद ठंडे रहें। स्मार्ट सिटी जैसी योजनाओं को लागू करने से पहले तापमान न बढ़ने देने के उपाय किए जाएं और उससे भी बढ़कर भीषण गर्मी को आपदा घोषित किया जाए। इसका प्रभाव यह होगा कि उससे जुड़े तमाम सरकारी कार्यक्रमों का लाभ लू और गर्म हवाओं से प्रभावित आमजन को मिल सकेगा और उसका जीवन बचाया जा सकेगा।

Date: 01-04-17

ग्रामीण हिंदू राष्ट्रवादियों को लुभाने का प्रयास

कुछ लोगों के लिए वे हीरो भी हैं और संत भी : सिर मुंडाए भगवा वस्त्र पहने भगवान शिव के सेवक, जो पांच बार संसद के लिए चुने गए और सिर्फ 44 साल की उम्र में 22 करोड़ की आबादी वाले प्रदेश के सर्वोच्च राजनीतिक पद पर नियुक्त हुए हैं। कुछ लोगों को उन्हें उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बनाया जाना अमंगलकारी लगता है। ध्रुवीकरण से कोई इनकार नहीं कर सकता। 1998 में भारत के सबसे कम उम्र सांसद बनने के बाद से आदित्यनाथ ने गोवध के विरोध से लेकर अयोध्या में राम मंदिर निर्माण जैसे कई हिंदू प्रतिक्रियावादी आंदोलन चलाए हैं। मंदिर के लिए जो जगह चुनी गई है वहां 16वीं सदी में बनी विशाल मस्जिद खड़ी थी, जिसे 1992 में हिंदू कट्टरपंथियों ने गिरा दिया और उसके बाद भड़के दंगों में करीब 2 हजार लोग मारे गए थे।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के गोरखपुर स्थित मंदिर के भक्त हों या उनके हिंदू गुट के लोग, वे सम्मान में उनके पैर छूते हैं और उन्हें 'महाराज' यानी ग्रेट किंग कहते हैं। आदित्यनाथ ने कई लोगों को आहत किया है। कुछ महिलाएं उनकी इन बातों से रुष्ट हैं कि वे कमजोर होती हैं और तब डायन बन जाती हैं जब वे उन कामों को करती हैं, जो परम्परागत रूप से पुरुष करते रहे हैं। पड़ोसी देश नेपाल के लोग भी उनके बयान पर गुस्सा प्रकट करते हैं। जैसे उनकी वेबसाइट पर एक बयान है कि अपनी हिफाजत के लिए भारत को माओवादियों के वेश में काम कर रहीं मुस्लिम व ईसाई ताकतों को नष्ट करके अपने छोटे पड़ोसी को 'हिंदू राष्ट्र' के रूप में संरक्षित रखना चाहिए। (नेपाल की आबादी में मुस्लिम व ईसाई 6 फीसदी से भी कम हैं)।भारत के अपने 18 करोड़ मुस्लिम आदित्यनाथ को खासतौर पर खौफनाक पाते हैं। वे कई बार कथित 'लव जेहाद' के खिलाफ चेतावनी दे चुके हैं, जिसके तहत उनके मुताबिक हिंदू लड़कियों को मुस्लिम बनाया जा रहा है। उनकी ऐसी बातों से मामुली झगड़े, बुरे सांप्रदायिक संघर्ष में बदल जाते हैं। इसके पहले उत्तर प्रदेश में जीत के बाद प्रधानमंत्री मोदी ने सबके भले के लिए एकजुट होने की बात करते हुए राहत देने वाला भाषण दिया था लेकिन, इसके बाद ही उन्होंने प्रदेश आदित्यनाथ को सौंप दिया। कुछ इसे उनका राजनीतिक गणित बताते हैं। अपने शासन के पहले हिस्से में वे शिक्षितों व समृद्धों को पुचकारते रहें। महंत का चुनाव उन्होंने ग्रामीण हिंदू राष्ट्रवादी वर्ग को लुभाने के लिए किया है। अब मोदी के सामने कुछ ही चुनौतियां हैं और वे अपना धर्म प्रेरित मिशन चलाने के लिए स्वतंत्र हैं। आदित्यनाथ गोमांस रखने का संदेह होने वाले बूचड़खाने व दुकानें बंद कर ही चुके हैंं और लव जेहादियों के खिलाफ एंटी-रोमियो दस्ता गठित कर चुके हैं। अयोध्या में

आदित्यनाथ की परीक्षा होगी। मध्यम मार्गी हिंदू राष्ट्रवादी मंदिर को लेकर धैर्य धारण करने की सलाह देते रहे हैं, कट्टरपंथी तत्काल अमल चाहते हैं। आदित्यनाथ कौन-सा रुख अपनाएंगे?

मोदी की नीति बदलने का संकेत है महंत मुख्यमंत्री

भारत के प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने मार्च में तब चौंकाने वाली जीत हासिल कर ली जब उनकी भारतीय जनता पार्टी ने उत्तर प्रदेश में सारे दलों को मात दे दी, जो देश का सबसे ज्यादा आबादी वाला और राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण राज्य है। हालांकि सारे दलों को काफी पीछे छोड़कर हासिल इस एकतरफा जीत से तब चिंता पैदा हो गई, जब भाजपा ने राज्य का शासन चलाने का दायित्व कट्टर हिंदूवादी योगी आदित्यनाथ को सौंप दिया। यह सभी पक्षों के लिए चौंकाने वाला फैसला था। आइए देखें इससे इतनी चिंता क्यों :

मोदी का वादा : सबके लिए आर्थिक वृद्धि को बढ़ावा देने के मोदी के वादे ने उन्हें 2014 में सत्ता हासिल करने में मदद की। 'सबका साथ सबका विकास' के नारे ने ही उन्हें विकास की बात करने वाले नेता के रूप में स्थापित किया। उन्होंने खुद को समावेशी यानी सबको साथ लेकर चलने वाले आर्थिक सुधारक के रूप में पेश किया। ऐसा दर्शाया कि वे मुस्लिमों सहित सारे भारतीयों के अधिकारों की रक्षा करेंगे, फिर चाहे उनकी पार्टी के कई लोग हिंदुत्व का समर्थन करते हों, जो भारत को हिंदू राष्ट्र के रूप में देखने वाली राजनीतिक विचारधारा है। आम चुनाव के प्रचार में मोदी ने इस विचारधारा पर बल नहीं दिया।दायां मोड़ : सबको साथ लेकर चलने के वादे पर तब सवाल खड़ा हो गया जब भाजपा ने कट्टरपंथी हिंदू महंत को राज्य का मुख्यमंत्री बना दिया। पांच बार सांसद बनने वाले आदित्यनाथ का अल्पसंख्यकों को निशाना बनाते हुए बांटने वाली बातें करने का लंबा रिकॉर्ड है। उन पर हत्या व दंगे के अारोप लगे हैं और वे खुलेआम भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने का आह्वान करते रहे हैं। उनके कई अभियान बांटने वाले और समाज में बहुत विवाद पैदा करने वाले रहे हैं। यह साफ तौर पर नरेंद्र मोदी के रवैये में आया दक्षिणपंथी यानी दायां मोड़ है।

नई प्राथमिकताएं : आदित्यनाथ के सत्तारूढ़ होने से कई लोग सोच में पड़ गए हैं कि प्रधानमंत्री मोदी कहीं अपना रवैया तो बदल नहीं रहे हैं। चिंता का कारण यह भी है कि देश की अर्थव्यवस्था की रफ्तार धीमी पड़ गई है। इसकी मोटेतौर पर वजह तो यही रही है कि प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने देश के 86 फीसदी करेंसी नोटों को वापस लेने का विवादास्पद फैसला लिया। विपक्षियों को उम्मीद थी कि चुनाव में उन्हें इसका विपरीत परिणाम भुगताना पड़ेगा लेकिन, ऐसा कुछ नहीं हुआ। उनके आलोचकों को विकास का एजेंडा कहीं पीछे छूटता दिखाई दे रहा है। अब आग उगलने वाले महंत को उत्तरप्रदेश का मुख्यमंत्री बनाने से ऐसा लगता है कि मोदी अब अधिक आक्रामक बहुसंख्यक वादी एजेंडा आगे बढ़ाएंगे, क्योंकि अब वे 2019 के आम चुनाव में फिर से जीत हासिल करने के लिए खुद को तैयार करने में लग जाएंगे। लगता है कि मोदी ने दक्षिणपंथी मोड़ ले लिया है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 01-04-17

अच्छा-बुरा

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम ने हाल ही में जो मानव विकास रिपोर्ट (एचडीआर) जारी की है उसमें भारत के लिए अच्छी-बुरी दोनों तरह की बातें शामिल हैं। यह अहम है कि हम दोनों का ध्यान रखें। अच्छी खबर यह है कि मानव विकास सूचकांक में सुधार के मामले में हमारा प्रदर्शन काफी सुधरा है। इस सूचकांक में जीवन संभाव्यता, स्कूली शिक्षा के वर्ष और प्रति व्यक्ति आय शामिल होते हैं। बड़ी अर्थव्यवस्थाओं में केवल चीन का प्रदर्शन हमसे बेहतर है। इस सूचकांक में हमारी स्थिति में सन 1990 के दशक से अब तक 46 फीसदी का सुधार हुआ है। यानी वार्षिक 1.52 फीसदी की दर। चीन में इस अवधि में सुधार की दर 1.57 फीसदी रही। लेकिन चीन के साथ तुलना गलत है क्योंकि जैसे-जैसे इस माप पर हम ऊपर की ओर बढ़ते हैं सुधार का प्रतिशत मुश्किल होता जाता है। सन 1990 से 2015 के दौरान भारत ऐसे नौ देशों से आगे निकल गया जो सन 1990 में उससे बेहतर स्थिति में थे। जबकि सन 1990 में भारत से खराब स्थिति में रहा कोई भी देश उसे पीछे नहीं छोड़ पाया है। इतना ही नहीं भारत एक दशक पहले की कमतर मानव विकास की श्रेणी से मध्यम मानव विकास की श्रेणी में आ गया है। अगर कोई चकित करने वाली बात नहीं हुई तो एक और दशक में हम उच्च मानव विकास वाली श्रेणी में आ जाएंगे। देश का आंकड़ा बेहतर करने का सबसे अच्छा तरीका यही होगा कि शिक्षा के क्षेत्र में हम अपना रिकॉर्ड बेहतर करें। देश में लड़कियां औसतन 4.8 वर्ष तक स्कूली शिक्षा ग्रहण करती हैं जबकि लड़के 8.2 वर्ष तक। सभी बच्चों का औसत 6.6 वर्ष का है। अगर इस स्तर को सुधार कर 12 वर्ष किया जा सके तो हम उच्च मानव विकास की श्रेणी में आ जाएंगे। उजबेकिस्तान हमारे जैसी ही आय के साथ उस स्तर को हासिल कर चुका है। एक अन्य कारक जिस पर ध्यान देना चाहिए, वह है स्त्री-पुरुष असमानता का निराश करने वाला स्तर। शिक्षा के स्तर में यह मुखर होकर सामने आता है। उसके बाद आय में इसे महसूस किया जा सकता है। देश में आय का पुरुष-स्त्री अनुपात क्रमश: 4:1 है। जबकि अन्य मध्यम विकास वाले देशों में यह 3:1 है। इस समस्या के मूल में है श्रमशक्ति में महिलाओं की सीमित भूमिका। पाकिस्तान समेत पश्चिम एशिया के मुस्लिम देशों का रिकॉर्ड ही इस मामले में हमसे खराब है। समग्र मानव विकास सूचकांक में सुधार के मामले में भारत का प्रदर्शन जहां उल्लेखनीय है, वहीं इस उपलब्धि का स्तर कतई संतोषजनक नहीं माना जा सकता है। बल्कि वह यह दिखाता है कि अभी कितना कुछ किया जाना बाकी है। उदाहरण के लिए देश की 55 फीसदी आबादी यूएनडीपी के शब्दों में बहुआयामी गरीबी के दौर से गुजर रही है (इसमें अल्पपोषण, उम्र से कम औसत वजन आदि जैसे सूचकांक शामिल हैं।)। 18 फीसदी अन्य लोगों पर ऐसी ही गरीबी के भंवर में फंसने का जोखिम है। यानी उपरोक्त दो श्रेणियों में कुल 73 फीसदी लोग। यह हमारे लिए चेतावनी सरीखा है क्योंकि अंतरराष्टïं्रीय मानकों के मुताबिक प्रति दिन 1.90 डॉलर से कम आय वाले लोग गरीबी रेखा के नीचे हैं और देश में ऐसे लोगों की तादाद 21.2 फीसदी है। इस आंकड़े की मदद से कोई चाहे तो अपना मन बहला सकता है कि हम अत्यधिक गरीबी के चक्र से बाहर आ रहे हैं। आत्मावलोकन की एक और वजह इस तथ्य से जुड़ी है कि हमारे लगभग सभी दक्षिण एशियाई पड़ोसी हमसे बेहतर स्थिति में हैं। चाहे पाकिस्तान हो या बांग्लादेश या फिर नेपाल। सभी की प्रति व्यक्ति आय हमसे कम है लेकिन गरीबी का आंकड़ा हमसे बेहतर है। समस्या की जड़ है सरकार का शिक्षा और स्वास्थ्य पर समुचित खर्च नहीं करना। शिक्षा पर हमारे देश का सार्वजनिक खर्च स्पष्ट तौर पर अपर्याप्त है। लेकिन स्वास्थ्य पर हमारा सरकारी खर्च तो और भी दयनीय स्थिति में है। हम जीडीपी का बमुश्किल 1.4 फीसदी ही स्वास्थ्य पर खर्च करते हैं। अन्य मध्यम मानव विकास वाले देशों के स्तर पर पहुंचने के लिए हमें इस बजट में कम से कम 30 फीसदी का इजाफा करना होगा। तमाम आंकड़ों के बीच एक संदेश एकदम स्पष्टï है। हमें सबसे अधिक ध्यान सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक शिक्षा और स्त्री-पुरुष समानता पर देने की आवश्यकता है। यह दुखद है कि हमें अपने देश में सार्वजनिक बहसों में इन तीनों के बारे में सबसे कम सुनने को मिलता है।

दैनिक जागरण

Date: 01-04-17

उचित मूल्य के इंतजार में किसान

गेहूं कटाई के मौके पर सरकार द्वारा गेहूं पर आयात शुल्क लगाने के सकारात्मक संकेत से किसान और उनसे जुड़े संगठनों ने राहत की सांस ली है। हालांकि अभी तक यह खुलासा नहीं किया गया कि आयात शुल्क कितना बढ़ाया जाएगा। बहरहाल उम्मीद यही है कि गेहूं के बंपर उत्पादन के अनुमान को देखते हुए सरकार कोई सकारात्मक फैसला ही लेगी। पिछले साल दिसंबर में सरकार ने गेहूं आयात पर जारी आयात शुल्क को पूरी तरह खत्म करने का फैसला किया था जिसका संसद के भीतर और बाहर पुरजोर विरोध हुआ। जहां सरकार इसे घरेलू बाजार में गेहूं की कीमतों को काबू में करने के लिए जरूरी बता रही थी वहीं विपक्षी दलों का कहना था कि यह पूर्ण रूप से किसान विरोधी निर्णय है। आयात शुल्क कम करने या हटाने की स्थिति में बाहर के देशों से आयात पर कोई अतिरिक्त कर देने का प्रावधान समाप्त हो जाता है और आयातित अनाज की बहुतायत हो जाती है जिसका सीधा असर देश के किसानों पर पड़ता है। अनाज की प्रचुरता होने का सबसे बड़ा खतरा यह होता है कि देश के किसानों को 'न्यूनतम समर्थन मूल्य' यानी एमएसपी से भी वंचित रहना पड़ता है।

संसद में खाद्य मंत्री द्वारा दी गई जानकारी के अनुसार 2006 से 2015 तक गेहूं का आयात शुल्क शून्य रहा। 2015 में इस पर 25 प्रतिशत आयात शुल्क लगाया गया जो लंबे समय तक नहीं रहा। मंत्रालय ने सूखे और ओलावृष्टि की दलील देकर सितंबर, 2016 में आयात शुल्क घटाकर 10 प्रतिशत कर दिया जो तीन महीने बाद ही शून्य हो गया। इससे स्पष्ट है कि एक के बाद एक सरकारें आयात को प्रश्रय देती रहीं और घरेलू उत्पादन को बढ़ाने के बजाय भंडारण क्षमता और बाजार के हालात को लेकर ही ज्यादा गंभीर रहीं। आयात शुल्क खत्म होने के साथ ही कारोबारियों ने ऑस्ट्रेलिया और यूक्रेन से भारी मात्रा में गेहूं आयात कर मौके का फायदा उठाया। एक रिपोर्ट की मानें तो इस बीच लगभग 55 लाख टन गेहूं 1625 रुपये के घोषित समर्थन मूल्य से भी कम कीमत पर आयात हुआ। राहत की बात यही है कि सरकार फिर आयात कर लगाने पर विचार कर रही है, लेकिन बड़ी समस्या यह है कि गेहूं की कटाई शुरू होने और कई राज्यों में खरीद प्रक्रिया आरंभ होने के बावजूद कर मुक्त आयात पर कोई प्रतिबंध नहीं लगा है। गेहूं उत्पादक लगातार आयात शुल्क लगाने की गुहार करते रहे हैं। सरकारी आंकड़ों के मुताबिक चालू रबी सत्र में गेहूं का रकबा पिछले साल की तुलना में सात प्रतिशत बढ़कर लगभग 320 लाख हेक्टेयर रहा। इस दौरान मानसून भी मेहरबान रहा जिसके दम पर लगभग 9.7 करोड़ टन गेहूं उत्पादन का अनुमान है। वहीं भारतीय खाद्य निगम यानी एफसीआइ के भंडारों में बीते साल एक दिसंबर तक 1.64 करोड़ टन गेहूं भंडार पहले से ही जमा था।

ऐसे में निशुल्क आयात की आड़ में अनाज कारोबारी कंपनियों को भंडारण करने की खुली छूट मिली। चुनिंदा कंपनियों का इस बाजार में एकाधिकार है। इनके द्वारा उत्पादन के अनुमान में कमी बताकर आयात का दबाव भी बनाया जाता है। समस्या सिर्फ गेहूं या रबी उत्पादकों के साथ नहीं, बल्कि अन्य फसल उत्पादकों के साथ भी है। ध्यान रहे कि नमी के नाम पर धान उत्पादकों को एमएसपी से कम का भुगतान खबर बनती रही है। टमाटर, प्याज और आलू भी एक-दो रुपये किलो के भाव बिके हैं। प्रतिवर्ष गन्ना किसानों को भुगतान हेतु मिल मालिकों के चक्कर काटने पड़ते हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार उत्तर प्रदेश में अक्टूबर-16 से फरवरी-17 तक 116 चीनी मिलों द्वारा कुल 17,893.96 करोड़ रुपये का गन्ना खरीदा गया। किसानों का 5,769.02 करोड़ रुपये मिलों पर बकाया है। सरकारी तंत्र बड़े मिल मालिकों पर शिकंजा कसने में नाकाम रहा। राहत की बात यही है कि राज्य की नई सरकार ने किसानों की कर्जमाफी की घोषणा की है। हालांकि इस पर बैंकों की तीखी प्रतिक्रियाएं आनी शुरू हो गई हैं। आरबीआइ और एसबीआइ, दोनों ने ही इसे अर्थव्यवस्था के प्रतिकूल बताया है। आश्चर्य की बात है कि बैंकों और वित्तीय संस्थानों के सुर किसान समर्थित नीतियों के खिलाफ होते हैं, परंतु बैंकों द्वारा महज दो वित्त वर्षों में 1.14 लाख करोड़ रुपये चुपचाप बट्टे खाते

में दर्शा दिए जाते हैं। संसद की लोक लेखा समिति के अनुसार भारतीय बैंकों की छह लाख करोड़ रुपये से अधिक की गैर निष्पादित अस्तियां यानी एनपीए के लिए भारतीय कंपनियां ही जिम्मेदार हैं। फंसे कर्जों में 55 प्रतिशत हिस्सा कारोबारी घरानों का है। चूंकि किसान भी भारतीय अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण अंशभागी हैं लिहाजा उन्हें भी वित्तीय संस्थानों और सरकार से न्यायपूर्ण नीतियों की दरकार है। प्राकृतिक आपदा भारतीय किसानों की बड़ी दुश्मन है और उससे निपटने के लिए अभी तक किए गए प्रयास नाकाफी हैं। मुआवजे और बीमा की राशि उनके जख्म पर मरहम से भी कम होती है। स्थानीय महाजनों द्वारा 30 से 60 प्रतिशत की ब्याज दर पर लिया कर्ज चुकाना उनके लिए असंभव हो जाता है। 2014-2015 के दौरान किसानों की आत्महत्या के प्रतिशत में वृद्धि उनकी दुर्दशा को ही दर्शाती है। ये आंकड़े घटने के बजाय बढ़ते ही जा रहे हैं। खेती-बाड़ी घाटे का सौदा ही न बनी रहे, इसके लिए तात्कालिक तौर पर उपाय करने होंगे। इसमें सबसे अहम एमएसपी की भूमिका होगी। डॉ. स्वामीनाथन की रिपोर्ट किसानों को 50 प्रतिशत लाभकारी मूल्य दिलाने की सिफारिश करती है और यह चुनावी वादा भी है। यह भारतीय किसानों के लिए जीवन रेखा बन सकती है। यह एकदम उचित समय है कि सरकार किसानों को उचित दाम देने की गारंटी तय करे। प्राकृतिक आपदा की वजह से फसलों का नष्ट होना एक बात है, किंतु बंपर उत्पादन के बाद भी फसलों का उचित दाम न मिल पाना तंत्र की असफलता जाहिर करने के साथ ही किसानों को भी हतोत्साहित करता है। किसानों के लिए 'लाभकारी' मूल्य आज भी दूर की कौड़ी हैं। प्रधानमंत्री 2022 तक किसानों की आमदनी दोगुनी करने पर जोर दे रहे हैं, परंतु इसके लिए स्पष्ट योजना का अभाव दिखता है। वक्त का तकाजा यही है कि स्किल इंडिया और मेक इन इंडिया के साथ-साथ 'ग्रो इन इंडिया' की भी बुनियाद रखकर उसमें तेजी लाई जाए।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 31-03-17

Not For The Farmer

The real beneficiary of Direct Benefit Transfer of fertiliser subsidy will be the industry.

The industry strategy on fertiliser subsidy remains similar to the tobacco industry's response to cancer claims since 1954. Robert Proctor, a historian at Stanford coined a term for it, "agnotology", that is, when ignorance is deliberately produced and indisputable facts do not win arguments. Proponents of the "Direct Benefit Transfer (DBT) of Fertiliser Subsidy" pilot claim it generates point of sale farmer traceability to stops leakages and timely payments to the industry; which while good, does not present the complete picture. To pick these low hanging fruit, one needn't cut down the tree itself. But that is exactly what's planned.The truth is that DBT is about transferring benefits to the fertiliser industry. The fertiliser subsidy DBT pilot project in 17 districts is a well-planned Trojan horse. It is misleading as it doesn't incorporate all the draconian measures that will eventually be a part of the full roll-out. The final form of the DBT will allow the industry to price fertilisers at will, and the burden of collecting the subsidy from the government will be transferred to farmers. It's all similar to US sugar industry in 1960 successfully paying scientists & academics to delink sugar and heart disease by diverting attention to saturated fat. Realising the enormous opportunity, for the first time international fertiliser giants like Yara International have started to buy Indian urea fertiliser plants to gain a toehold in the lucrative market.

Fertiliser price has two components — the retail price which is fixed and the subsidy component which is variable. Today, irrespective of how the international urea price fluctuates, the farmers get to buy the urea bag at a fixed cost of Rs 284. With the new DBT regime, that will be reversed. The price of a urea bag will become variable while the subsidy component will be constant. In 2008, the international urea price breached the $500

per tonne mark and in India the urea retail price was Rs 239 per bag. International prices are about half of that today, but are perking up. Should the international price rise to 2008 levels, under the new DBT regime the farmer could have to shell out Rs 1,200 per bag.A perfect analogy to explain the final version of the DBT of fertiliser subsidy regime is the LPG gas cylinder cost borne by the consumers. Before the DBT on LPG, consumers paid Rs 450 for a gas cylinder. After the regime change, a gas cylinder's price has risen to Rs 805. The consumer purchases the cylinder at full cost and is later reimbursed the subsidy component, if applicable. Similarly, farmers now pay the subsidised retail price and take home the bag of urea. However, in the new regime, the farmer will have to register with land documents (difficult to procure) and pay the full price upfront and be reimbursed the subsidised amount. It simply means that the capital expenditure and credit requirement for the farmer will increase by a third. The most common cause for farmer suicides remains credit.

Just as Tim Harford explained "distort, dispute, distract" in 'The problem with facts'; first the fertiliser industry appeared to engage, next it sowed doubt on prioritising farmer needs over fertiliser industry profitability and in third stage employing their enormous pool of resources they are using amenable experts to undermine farmers concerns & real expertise.The new regime will also limit the quantity of subsidised fertiliser a farmer will be allowed to purchase. Wheat, rice, potatoes, pulses, millets etc. each require different nutrients in varying quantities depending of soil and crop selection. The policy negates this fact and goes back to old bureaucratic generalisation of Indian agriculture which has failed the nation repeatedly. Today, 10 crore tenant farmers can buy subsidised fertilisers. In the new regime, they will not be entitled to the subsidy because land records don't carry their names.The DBT of fertiliser subsidy can be beneficial if it is tweaked to protect farmers. Farmers, with their backs to the wall, pray for a parliamentary guarantee safeguards because mere words aren't legally binding. Framers are hurt and feeling betrayed because issues of livelihood are not the primary concern of farmer fertiliser cooperatives any more. The last bulwark against the international fertiliser mafia has fallen. The government's grand vision for a "New India" is at variance with its narrow economic policies. Officials only hope to rein in fertiliser subsidy expenditure. The number of economists advising the government has reached an affliction point and sadly "doubling farmer income" is becoming a parody against the establishment. Farmers' voices are being drowned in the din generated by the fertiliser industry. Is anybody listening?

The writer is chairman, Bharat Krishak Samaj

THE HINDU

Date: 31-03-17

It's time for Africa

A far wider cultural engagement with the continent is necessary to combat the latent racism among Indians

After a teenage boy went missing in Greater Noida on March 26, locals accused five Nigerian students of cannibalism. Residents of the enclave barged into the home where the Nigerian students were staying and searched the fridge for the remains of the youth, who died in a hospital after being found in a nearby park. Following unsubstantiated complaints from the victim's family, the police charged the students with murder but did not detain them for lack of evidence. It was later reported that the boy died of drug overdose. This incident, followed by further violence against African students in Noida, marks a new low in the racism faced by Africans in India.

This vicious race crime is a clear sign of terrible ignorance, arrogance and the recycling of old tropes of Africans as "uncivilised". Indians, with their preference for "whiteness" and their total lack of information and exposure to Africa's rich cultural heritage and its contemporary politics, have denied Africans in India their basic humanity which is demonstrated in their accusations of "cannibalism" — the ultimate denouncement of the "inhuman other".

A spate of incidents

There have been several atrocious cases of racism in the last year towards Africans in India. Masonda Ketada Olivier, a young Congolese man who was a French teacher in South Extension, was murdered while returning home from a party when he tried to get an autorickshaw home and got into an argument with three men who wanted to hire the vehicle. He was brutally pulled out of the auto, assaulted, and struck on the head with a stone. He was rushed to the AIIMS trauma centre but was pronounced dead on arrival.The aggravated hate crimes against Africans are not limited to Delhi and its environs. Three months before the Olivier tragedy, a 21-year-old Tanzanian woman was driving in Bengaluru when a mob stopped the car, dragged her out, beat her and stripped off her shirt. Local papers reported that the police stood by while she was beaten and paraded around naked. The car was set ablaze.

Apparently the young Tanzanian student was beaten to avenge the death of a woman who had allegedly been run over by a Sudanese man less than an hour before the attack. The student pleaded with the police for help insisting she had nothing to do with the fatal accident. In her filed complaint, she alleged that a policeman told her: "You all look alike and you should get the black man who ran over a woman in the area."While these monstrous incidents hit the headlines, Africans in India face everyday racism that makes them feel very unsafe. The attitude of the police reflects and exacerbates this racial violence and discrimination. African students are mostly left to protest the hate crimes, and the government, keen to placate the African governments, offers the obligatory sorry and promises to look into the incident and bring about justice. However, no serious attempts to address racism towards Africans in India have been undertaken.

There were 42,420 foreign students in India in 2016. The top sending countries were Nepal (21.3%), Afghanistan (10.3%), Bhutan, (6.6%), Sudan (4.8%), Nigeria (4.7%), indicating that after the three SAARC partner countries, Sudan and Nigeria send the most students to study in India. Students come from many African countries to India as many universities offer quality education in English that is much more reasonably priced than in the West. The University of Mysore, for instance, has 2,000 foreign students, many from African countries.Thus Indian students have an opportunity to meet African students and learn about a part of the world of which they know little. This is despite the fact that India has had trading connections with Africa over the centuries and many people of Indian descent live and have lived in Africa for centuries.

Engaging is knowing

Nana Peasah, a Ghanaian student, has returned recently to Accra after studying at the University of Mysore for two years. He was the international students' co-coordinator at the university in 2015-16. He sought to learn about India and joined the Rotary Club East of Mysore. He also attended the Destiny International Church, a Pentecostal Church, where many international students are made to feel welcome. While Mr. Peasah had a lot of foreign student friends from around the world, it was harder to make friends with Indian students. To make friends with women students was almost impossible, as Indian men were quick to accuse Africans of making advances at 'their' women even if they were merely studying together.Concerned by the racism faced by many African students, Mr. Peasah helped organise a peace march to raise awareness about racism in India. He also helped launch a campaign to clean Rajkumar Park to show that foreign students, including Africans, were also part of the Swachh Bharat effort and could contribute to the country's mission to create a cleaner India. While very few fellow students from the University of Mysore joined the peace march, Mr. Peasah appreciated the fact that over 40 students came in a bus from Vikram Nursing School to join it and even provided first aid back-up support for the walkers.

Mr. Peasah thinks it is critical that proper orientation be given to African students coming to study in India. It is perhaps as or more critical for Indian students and members of communities where African students live to have a better understanding of Africa. This would require discussions and exposure to the many cultures and diversity of Africa.To date there are few efforts even among artists and intellectuals to address this issue of blatant racism so rampant in India and among Indians abroad. The work of Bengaluru-based photographer Mahesh Shantaram is an exception. 'The African Portraits', a photo exhibition in conjunction with Tasveer, has been mounted in Bengaluru, Ahmedabad, Mumbai and Kolkata. Mr. Shantaram's very direct and intimate portraits of African students studying, relaxing, or taking a nap underline the familiarity and everydayness of their lives. He briefly describes each of the personalities with respect and sensitivity and thus challenges the viewer to see the multidimensionality of each individual photographed. The stunning colour portraits also speak to the diverse faces of the continent. These nuanced portrayals force the viewer to move beyond stereotypes to see each person portrayed; their lives are no different from our own.

In addition, an exhibition of Africans in India was launched last year that has travelled to Delhi and Vadodara. Curated by an American art collector, Kenneth X. Robbins, the exhibition was first held in 2013 at the Schomburg Center for Research in Black Culture, New York. It portrays the trading and political relations between several African groups starting from the fourth century AD, and particularly examines the role that Muslims from East Africa played as slaves and traders in India, with a few — such as Malik Ambar from Ethiopia, who was a prominent noble in the Ahmadnagar Sultanate in the 17th century — rising to become important military generals.A much more concerted effort must be made by the Indian government, and Indian citizens, intellectuals, and artists to make Africans feel safe in India. The police too, who are often implicated in these racist incidents, must be trained, and issues of racism within the force seriously prosecuted. Students on Indian campuses must be made aware of racism towards foreign students and shown that it is no different from the racism faced by Indian students abroad, which India so vehemently denounces. In addition, for a country of India's size and given the increasing number of Africans coming to India to study and for medical tourism, a far wider cultural engagement with the continent is necessary not only to combat the malevolent racism, but also to expand the global horizons of the Indian public.

Jael Silliman is an author, scholar, and women's right activist

---

Date: 31-03-17

A clean-up act: no compromise over air quality

The Supreme Court has signalled there can be no compromise over air quality

The Supreme Court's direction to transport authorities to stop registering vehicles that do not meet Bharat Stage-IV emission standards from April 1 sends out the welcome message that short-term economic considerations cannot supersede public health concerns. Some automobile companies, notably those manufacturing two-wheelers and commercial vehicles, have suffered a blow as they must now deal with unsold inventories of the obsolete models. The 2017 deadline for a nationwide shift to BS-IV had been repeatedly emphasised in various forums, and reiterated by the Parliamentary Standing Committee on Petroleum and Natural Gas in its review of the Auto Fuel Policy nearly two years ago. But there was some confusion about whether April 1 was the deadline for the manufacture of BS-III models or their sale. Significantly, some automobile manufacturers themselves called for a decisive shift in favour of the higher emission standard, since they had invested in upgraded technologies over time. But it would appear that two-wheeler and commercial vehicle manufacturers made a costly miscalculation when they hoped for a repeat of the experience they had seven years ago, when the shift from BS-II to BS-III norms was carried out with a relaxation of deadlines often stretching across months. The Centre must share some of the blame, because it assured

industry of a business-as-usual approach on a sensitive issue such as automotive emissions, even though producers were already equipped and meeting the higher norms in the bigger cities.

The court's order means that a little over eight lakh BS-III vehicles will have to be either upgraded or sold abroad. As a total sum, this is a small fraction of the 19 crore vehicles on Indian roads today. It is unlikely that the court's uncompromising approach will have a significant impact on reducing air pollution. But the message it sends out on air pollution is unmistakable. Research reported three years ago estimated that 30% to 50% of total on-road emissions came from vehicles older than 10 years, or about 17% of the fleet. The requirement for manufacturers to adjust to the new reality should serve as a reminder that they, and the fuel companies, must prepare for the next big deadline: an upgrade to the BS-VI standard by April 1, 2020, leapfrogging BS-V. More immediately, the Centre has to ensure that the objective of the Supreme Court's order is met, and the 'one fuel, one country' goal for BS-IV is fulfilled. This is crucial to ensure that the catalytic converters of newer vehicles are not affected by lower-grade fuels. Liquidating obsolete inventory does pose a challenge for manufacturers, but this can be met through exports, technology upgrades or reuse of dismantled parts. The imperative is to shift to a clean fuel pathway.

Live हिन्दुस्तान .com

Date: 31-03-17

उद्योग से बड़ी है सेहत की चिंता

सर्वोच्च न्यायालय ने 29 मार्च को जो फैसला सुनाया, वह पर्यावरण संरक्षण की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम है। सुप्रीम कोर्ट के न्यायमूर्ति मदन बी लोकुर और न्यायमूर्ति दीपक गुप्ता के पीठ ने ऑटोमोबाइल निर्माताओं को यह निर्देश दिया कि वे आगामी एक अप्रैल से देश भर में भारत स्टेज-3 (बीएस-3) वाहनों की ब्रिकी बंद करें। अदालत ने यह भी कहा कि अगर एक अप्रैल के बाद कोई बीएस-3 गाड़ी रजिस्ट्रेशन के लिए आती है, तो राज्य परिवहन विभाग वह दस्तावेज देखेगा, जिससे यह साबित हो सके कि गाड़ी 31 मार्च, 2017 से पहले खरीदी गई है।आदेश में दो जजों की इस बेंच ने स्पष्ट तौर पर कहा कि भले ही देश में गाड़ियों के कुल स्टॉक में बीएस-3 गाड़ियों की हिस्सेदारी अपेक्षाकृत कम है, फिर भी बढ़ रहे वायु प्रदूषण और लोगों के बिगड़ते स्वास्थ्य के मद्देनजर यह कहना गलत नहीं होगा कि जनता का स्वास्थ्य और जीवन के उनके मौलिक अधिकार ऑटोमोबाइल निर्माताओं के व्यावसायिक हितों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।यह एक महत्वपूर्ण निर्देश है। इसमें ऑटोमोबाइल निर्माताओं के लिए न सिर्फ सख्त संदेश है, बल्कि एक सबक भी है कि उन्हें अब अतिरिक्त प्रयास करने ही होंगे। संकीर्ण नजरिया अपनाकर उन्हें इस बदलाव को कमतर नहीं करना चाहिए। वाहन कंपनियों को आम लोगों के स्वास्थ्य को पर्याप्त तवज्जो देनी होगी।

मामले की सुनवाई के दौरान ऑटोमोबाइल निर्माताओं की तरफ से बिना बिकी बीएस-3 गाड़ियों के आंकड़े भी पेश किए गए। यह आंकड़ा बताता है कि देश में फिलहाल 8,24,275 बिना बिके बीएस-3 वाहन हैं। इनमें से 96,724 तो व्यावसायिक गाड़ियां हैं, जबकि 6,71,305 दोपहिया, 16,198 कारें और 40,048 तिपहिया गाड़ियां हैं। कंपनियों की मांग यह थी कि उन्हें अपने इस स्टॉक को खत्म करने के लिए एक वर्ष की मोहलत दी जाए, मगर सुप्रीम कोर्ट ने उनकी तमाम दलीलों को खारिज कर दिया।इस पूरे प्रकरण में सबसे दुर्भाग्यपूर्ण और पूरी तरह अस्वीकार्य पक्ष यह है कि साल 2010 से ही ऑटोमोबाइल कंपनियां कुछ निर्धारित क्षेत्रों के लिए बीएस-4 वाहनों का उत्पादन कर रही हैं, तब भी उनमें से ज्यादातर ने बीएस-3 गाड़ियों के उत्पादन को कम करने को लेकर संजीदगी नहीं दिखाई। वे पुरानी रफ्तार से ही इन गाड़ियों का उत्पादन करती रहीं, जबकि वे जान रही थीं कि ये गाड़ियां मानव-स्वास्थ्य को नुकसान पहुंचा रही हैं। इन वर्षों में उनके कारोबारी रवैये में कोई तब्दीली तो नहीं ही आई, उन्होंने इस बदलाव के लिए कोई ठोस रणनीति भी नहीं बनाई। हालांकि ऐसा नहीं है कि सभी ऑटोमोबाइल कंपनियों का बर्ताव एक सा रहा। कुछ ऐसी कंपनियां भी रहीं, जिन्होंने समय पूर्व बीएस-3 गाड़ियों के उत्पादन को रोकने के लिए अपने तईं

कोशिशें कीं। ऐसी कंपनियों में मैं निश्चय ही मारुति उद्योग लिमिटेड, टोयोटा, हुंडई, जनरल मोटर्स और दोपहिया गाड़ियां बनाने वाली कंपनी बजाज ऑटो लिमिटेड का नाम लेना चाहूंगी। हालांकि यह सोच पूरे ऑटोमोबाइल उद्योग की और एक साझा कॉरपोरेट सहमति वाली होनी चाहिए थी।बीएस-3 से बीएस-4 की तरफ बढ़ाया गया यह कदम महत्वपूर्ण इसलिए भी है, क्योंकि इससे हमारी आबोहवा में सूक्ष्म कणों यानी पार्टिकुलेट मैटर का उत्सर्जन काफी कम हो सकता है। अनुमान है कि नए बीएस-4 ट्रकों से 80 फीसदी और कारों से 50 फीसदी तक उत्सर्जन कम हो सकता है। इसी तरह, बीएस-4 दोपहिया वाहन 41-80 फीसदी तक हाइड्रोकार्बन और नाइट्रोजन ऑक्साइड का कम उत्सर्जन कर सकते हैं; हालांकि यह काफी कुछ इंजन पर निर्भर करेगा।

एक मसला और महत्वपूर्ण है। अगले 15-20 वर्षों तक बीएस-3 गाड़ियां भारतीय सड़कों पर दौड़ती रहेंगी। लिहाजा हमें यह गंभीरता से सोचना चाहिए कि दिल्ली-एनसीआर ही नहीं, बल्कि पूरा भारत इस मानक के नरम प्रावधानों और पुरानी बीएस-3 गाड़ियों की वजह से जहरीले प्रदूषण को न झेलता रहे। हकीकत यह है कि वायु प्रदूषण दिल्ली-एनसीआर के साथ-साथ पूरे देश के लिए एक बड़ा खतरा बन चुका है। ग्लोबल बर्डन ऑफ डिजीज की 2017 की रिपोर्ट बताती है कि पीएम 2.5 (पार्टिकुलेट मैटर 2.5) की वजह से दुनिया भर में होने वाली मौतों में भारत का स्थान दूसरा है। इतना ही नहीं, ओजोन प्रदूषण भी हमारी जान ले रहा है और इस मामले में हम दुनिया भर में शीर्ष पर हैं। आलम यह है कि वायु प्रदूषण से होने वाली कुल वैश्विक मौतों में से एक-चौथाई से अधिक भारत में हो रही हैं। जाहिर है, हम इन तमाम आंकड़ों को नजरअंदाज नहीं कर सकते।

अच्छी बात यह है कि बीएस-4 वाहनों के मद्देनजर तेलशोधन क्षेत्र (रिफाइनरी सेक्टर) ने पहले से ही तेलशोधन तकनीक और उसके उन्नयन के लिए कई तरह के प्रयास शुरू कर दिए हैं। केंद्रीय सड़क परिवहन और राजमार्ग मंत्रालय के आंकड़े बताते हैं कि भारत में एक साल में करीब दो करोड़ गाड़ियों का रजिस्ट्रेशन होता है और कल से सिर्फ बीएस-4 गाड़ियां ही बिकेंगी, तो माना जा सकता है कि अदालत का यह फैसला जन-स्वास्थ्य की दिशा में कितना बड़ा कदम साबित हो सकता है।हालांकि यहां इस चिंता को भी खारिज नहीं किया जा सकता कि जब पूरी दुनिया यूरो-7 की ओर बढ़ रही है, तो हम बीएस-4 ही अपना रहे हैं, यानी हम यूरोपीय देशों से इस मामले में नौ साल पीछे हैं। मगर इसकी वजह हमारा अपना ढीलापन है। साल 2003 में ही ऑटो ईंधन नीति से संबंधित पहली सिफारिशें आ गई थीं। इसमें 2010 तक का रोडमैप था। मगर त्वरित प्रतिक्रिया दिखाने की बजाय हम लापरवाह बने रहे। दूसरी सिफारिशें 2015 में आईं, मगर इनमें भी जिन प्रावधानों की चर्चा थी, वे काफी नरम मानी गईं। लिहाजा हमने और हमारी संस्था ने इस मसले में हस्तक्षेप करके यह सुनिश्चित कराने की कोशिश की कि देश के आम लोगों के स्वास्थ्य हित हमारे नीति-नियंताओं की सुस्त चाल की बेदी पर न चढ़ पाएं। हमारी यही मांग थी कि भारत तेज गति से आगे बढ़े और दुनिया के दूसरे देशों के मापदंडों के समकक्ष पहुंचे। यह बताते हुए अच्छा लग रहा है कि इस बिंदु पर गौर किया गया है, और उम्मीद है कि भारत 2020-21 तक यूरो-6 मानक अपनाने लगेगा।

Date: 31-03-17

मार्च की खड़ी धूप

अभी पिछले मार्च की तो बात है, जब यूरोप-अमेरिका से लेकर भारत तक बहस चल रही थी और मार्च में भी कड़ाके की ठंड के एहसास के कारण तलाशे जा रहे थे। भारत में आमतौर पर फरवरी मध्य तक ठंड अपने पंख समेट लेती थी, लेकिन पिछले वर्ष मार्च के तीसरे हफ्ते तक तेज हवाओं और बर्फबारी के दौर ने मौसम का मिजाज ही बदल दिया था। लेकिन यह मार्च पिछले मार्च जैसा नहीं है। इसने तो अभी से जून जैसा एहसास करा दिया है। अब अगर अभी से लू से होने वाली मौतें गिनी जाने लगें, तो समझ लेना चाहिए कि खतरा बड़ा है। महाराष्ट्र में लू से हुई

मौतें तो यही संकेत दे रही हैं। मौसम विज्ञानी भी इसे बहुत सामान्य घटना मानने को तैयार नहीं हैं। मार्च के अंतिम तीन दिनों में तापमान के आंकड़े उन्हें भी बेचैन कर रहे हैं। ये आंकड़े बता रहे हैं कि पारा अपने पिछले रिकॉर्ड तोड़ने पर आमादा है। कई सारी जगहों का पारा अभी से 42 डिग्री सेल्सियस के पार निकल गया है। माना जा रहा है कि इस साल गरमी लंबी चलेगी।

मौसम की इस करवट को अल नीनो के असर के रूप में देखा जा रहा है कि जिस मार्च में अधिकतम तापमान 34-35 डिग्री से आगे नहीं जाता, उसमें यह 42 डिग्री पार कर गया है। यह असर अभी और बढ़ सकता है। ग्लोबल वार्मिंग के संदर्भ में आशंका तो पहले से व्यक्त की जा रही है कि यही रफ्तार रही, तो अगले 50 से सौ साल में धरती का तापमान इतना बढ़ चुका होगा कि इसका मुकाबला असंभव जैसा हो जाएगा। इस खतरे के लिए प्राकृतिक कारणों के साथ हमारी अपनी जीवन शैली भी कम दोषी नहीं है। वन तो कटे ही, घरों में आंगन क्या, पौधों की क्यारी भी खत्म हो गई। गांवों तक में तालाब नहीं दिखते। 'फ्लैट कल्चर' ने इस संकट को और बढ़ाया। अब तो हाईवे के किनारे भी हरियाली नहीं दिखती। हमारी छोटी-छोटी आदतों ने भी दिक्कत बढ़ाई। घरों और कारों में लगातार चलते एयरकंडीशनर गरमी में ठंडक के एहसास भले दें, लेकिन इनसे निकलने वाली गरमी ग्रीन हाउस के असर को बढ़ा रही है। इसका गणित या गणना विनाशकारी है। हमारी हरकतों से होने वाला गरम गैसों का उत्सर्जन पर्यावरण असंतुलन का कारण बन रहा है।

सच तो यह है कि पर्यावरण असंतुलन पर विलाप बहुत हो चुका। अब सतर्क होने की जरूरत है। नहीं भूलना चाहिए कि 1983, 1987, 1988, 1989 और 1991 बीती सदी के सबसे गरम साल में शुमार हुए थे। साल 2017 शायद अब तक का सबसे गरम वर्ष साबित हो। हमने अपनी आदतें नहीं बदलीं, तो नतीजे हम और हमारी आने वाली पीढ़ियां ही भुगतेंगी। हमारी हरकतों ने जिस तरह से हरियाली खत्म की है, उसे वापस हमें ही लाना होगा। आंकड़ों में नहीं, वास्तविकता की जमीन पर वृक्षारोपण करना होगा। हर इंसान को अपनी भागीदारी तय करनी होगी। सरकारी तंत्र तो अपने तरीके से काम कर ही रहा है। मौसमी उलट-फेर की आशंका में भारत के मौसम विज्ञान विभाग ने राज्यों को अलर्ट करके आपदा प्रबंधन इकाइयों और चिकित्सा तंत्र को भीषण गरमी की लहर से मुकाबले को तैयार रहने के लिए कहा है। अब यह संबद्ध राज्यों और उसके तंत्र की जिम्मेदारी है कि गरम हवा के इस अलर्ट को किस रूप में लेते हैं। क्या वे इस मामले में भी शीतलहरी शुरू हो जाने के बाद की भागमभाग की तर्ज पर ही काम करेंगे? नहीं भूलना चाहिए कि शीत की मार से कहीं ज्यादा खतरनाक ताप की मार होती है। अलार्म जब समय से बज चुका है, तो मशीनरी को भी उठ खड़ा होना चाहिए। अभी से तय करना होगा कि इस गरमी के हाल में फसल और जीवन, दोनों कैसे सुरक्षित रहेंगे?